

अत्र शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत इति चेत् 'सुध्दा णवुंसगवेदा' इत्यर्षात् ।
पिपीलिकानामण्डदर्शनान्न ते नपुंसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात् ।
विग्रहगतौ न वेदाभावः, तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात् ।

शेषतिरश्चां कियन्तो वेदा इति शङ्कितशिष्याशङ्कानिराकरणार्थमाह ---

तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ॥ १०७ ॥

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण, पर्यायत्वात् । १ (मु. नाक्रमेण पर्यायत्वात् । कषाय ।)
पर्यायत्वात् कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा, आजन्मन- आमरणात्तुदुदयस्य सत्त्वात् ।
सुगममन्यत् । मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह ---

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाड्डि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १०८ ॥

शंका -- चतुरिन्द्रियतकके जीवोंमें शेष दो वेदोंका अभाव है, यह कैसे जाना जाय?

समाधान -- 'एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीव शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं' इस आर्षवचनसे
जाना जाता है कि इनमें शेष दो वेद नहीं होते हैं ।

शंका -- चींटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिये ये नपुंसकवेदी नहीं हो सकते हैं?

समाधान -- अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

विशेषार्थ -- माता-पिताके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है । इस प्रकार गर्भधारणा
चींटियोंके नहीं पाई जाती है । अतः उनके अण्डे गर्भज नहीं समझना चाहिये ।

विग्रहगतिमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, यहां पर भी अव्यक्तभेद पाया जाता है ।

शेष तिर्यचोंके कितने वेद होते हैं, इस प्रकारकी आशंकासे युक्त शिष्योंकी शंकाके दूर
करनेकेलिये सूत्र कहते हैं --

तिर्यच असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं

॥१०७॥

तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है । पर्याय स्वरूप
होनेसे जैसे, विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक
अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक किसी एक वेदका उदय पाया
जाता है । शेष कथन सुगम है ।

मनुष्यगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं --

मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक तीनों वेदवाले होते हैं

॥ १०८ ॥

संयतानां कथं त्रिवेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तेः १ (मु. तथोक्तम्) । सुगममन्यत् ।

वेदत्रयातीतजीवप्रतिपादनार्थमाह --

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९ ॥

सर्वत्र च-शब्दः समुच्चये द्रष्टव्यः, एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति । इति शब्दः सर्वत्र समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह --

देवा चदुसु द्वाणेषु दुवेदा-इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११० ॥

सानत्कुमारमाहेन्द्रादुपरि पुरुषवेदा एव । यत्नमन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति चेत्? 'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतनः 'च' शब्दो ^२ (मु. अत्रतन च शब्दः ।) यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च तस्मात्सानत्कुमारादीनां पुंवेदत्वमवसीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ताः, सम्मूर्च्छिम-पञ्चेन्द्रियाश्च नपुंसका एव । असंख्येयवर्षायुषस्ति यज्चो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न

शंका -- संयतोंकेतीनों वेदोंको सत्त्व कैसे संभव हैं ।

समाधान -- नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहां पर तीनों वेदोंकी सत्ता कही । शेष कथन सुगम है ।

अब तीनों वेदोंसे रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेकेलिये आगेका सूत्र कहते हैं --

नववे गुणस्थानके सवेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव अपगतवेद हैं ॥ १०९ ॥

सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

अब देवगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं --

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११० ॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं ।

शंका --- 'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं ।

उसी प्रकार, लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यच और मनुष्य तथा संमूर्छन पंचेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते हैं । असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

नपुंसकवेदा- इत्यादयोऽनुक्तास्तत एवावसेयाः ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कषायमुखेन जीवसमासस्थाननिरूपणार्थमाह-

कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायाकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि ॥

१११ ॥

कषायिसामान्येनैकत्वाद्बंहूनामप्येकवचनं घटते । क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी लोभकषायी अकषायीति । अथवा नेदमेकवचनं 'एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि' इत्येवमादिबहुत्वेऽपि एवंविधरूपोपलम्भादनेकान्तात् । अथ स्यात्क्रोधकषायः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः अकषाय इति वक्तव्यम्, कषायेभ्यस्तद्भेदात् भेदात् इति? न, जीवेभ्यः पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोर्भेदाभावे कथं भिन्नस्तन्निर्देशो^१ (मु. भिन्नं तन्निर्देशो ।) घटत इति चेन्न, अनेकान्ते तदविरोधात् । शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय ।

वेदवाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं । इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उसी च शब्दसे जान लेना । वेदमार्गणाकेद्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कषाय मार्गणाकेद्वारा गुणस्थानोंकेनिरूपण करनेकेलिये सूत्र कहते हैं --

कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कषायी- सामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनकेद्वारा कथन बन जाता है । जैसे, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी । अथवा,

‘कोधकसाई’ इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं , क्योंकि, ‘एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि’ - अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा पा रहे हैं। इत्यादि प्रयोगोंमे बहुत्वकी विवक्षा रहने पर भी ‘कोधकसाई’ की तरह ‘ सिही ’ इस प्रकार रुपोंकी उपलब्धि होती है। इसलिये इस प्रकारके प्रयोगोंमें अनेकान्त समझना चाहिये।

शंका -- सूत्रमें क्रोधकषायी आदिके स्थान पर क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय, लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिये क्योंकि, कषायोंसे कषायवालोंमें भेद पाया जाता है?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, जीवोंसे पृथक्क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती है।

शंका -- यदि कषाय और कषायवान्में भेद नहीं है तो भिन्न रुपसे उनका निर्देश कैसे बन सकता है?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, अनेकान्तमें भिन्न निर्देशके बन जानेंमें कोई विरोध नहीं आता है।

विशेषार्थ -- यद्यपि कषायादि धर्म जीवको छोडकर स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं, इस

इति भवति, तस्य शब्दपृष्ठतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रवणत्वात्। अर्थनयाश्रयणे क्रोधकषायीति स्यात्, शब्दतोऽर्थस्य भेदाभावात्। कषायिचातुर्विध्यात्कषायस्य चातुर्विध्यमवगम्यत इति वा। तथोपदिष्टमेवानुवदनमनुवादः, कषायस्य अनुवादः कषायानुवादः, तेन कषायानुवादेन। प्रसिद्धस्यानुकथनमनुवादः। सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा इति न्यायादनुवादोऽनर्थकः, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावाद्देति? न, प्रवाहरूपेणापौरुषे-यत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तार इति ज्ञापनार्थत्वात्। कः क्रोधकषायः? रोष आमर्षः संरम्भः। को मानकषाय ? रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्यानवनतिः। निकृतिर्वञ्चना मायाकषायः। गर्हा काडःक्षा लोभः। उक्तं च

लिये जीवसे वे अभिन्न हैं। फिर भी धर्म-धर्मीभेदसे उनमें भेद बन जाता है, अतएव भिन्न निर्देश करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है।

अथवा, शब्दनयका आश्रय करने पर 'क्रोधकषाय' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि, शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करानेमें समर्थ है। और अर्थनयका आश्रय करने पर ' क्रोधकषायी ' इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है। अथवा, चार प्रकारके कषायवान् जीव होते हैं, इससे कषाय भी चार प्रकारकी हैं, ऐसा ज्ञान हो जाता है। इसलिये सूत्रमें ' क्रोधकषायी ' इत्यादि पदोंका प्रयोग किया है।

जिस प्रकार उपदेश दिया है उसीप्रकारके कथन करनेको अनुवाद करते हैं। कषायके अनुवादको कषायानुवाद कहते हैं। उससे अर्थात् कषायानुवादसे जीव पांच प्रकारके होते हैं। अथवा, प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं।

शंका -- 'कथामार्ग अर्थात् कथनपरंपराएँ प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होती हैं' इस न्यायके अनुसार यहां पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करना निष्फल है, इससे अनधिगत अर्थका ज्ञान नहीं होता है?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, यह कथन प्रवाहरूपसे अपौरुषेय होनेके कारण तीर्थंकर आदि इसके केवल व्याख्यान करनेवाले ही हैं, कर्ता नहीं हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिये अनुवाद पदका कहना अनर्थक नहीं है।

शंका -- क्रोधकषाय किसे कहते हैं?

समाधान -- रोष, आमर्ष और संरम्भ इन सबको क्रोध कहते हैं।

शंका -- मानकषाय किसे कहते हैं?

समाधान -- रोषसे अथवा विद्या, तप और जाति आदिके मदसे अन्यके प्रति नम्र न होनेको मान कहते हैं।

निकृति या वंचनाको मायाकषाय कहते हैं। गर्हा या आकांक्षाको लोभ कहते हैं, कहा भी है ---

सिल-पुढवि-भेद-धूली-जल-राई-समाणओ-हवे कोहो ।

णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो^१ (प्रा. पं. १, १११। गो.

जी. २८४. तत्तच्छक्तियुक्तक्रोधकषायपरिणतो जीवः तत्तद्गत्युत्पत्ति-

कारणतत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादिप्रकृतीर्बध्नातीत्यर्थः । अत्र राजिशब्दो रेखार्थवाची न तु पंक्तिवाची । यथा शिलादिभेदानां चिरतरचिरशीघ्रशीघ्रतरकालैर्विना अनुसन्धानं न घटते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणसंधानार्हो न स्यात् इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं संभवतीति तात्पर्यार्थः । जी. प्र. टी. णगपुढविबालुगोदयरार्इसरिसो चउव्विहो कोहो । कसायपाहुड, जलरेणपुढविपव्वयरार्इसरिसो चउव्विहो कोहो । क. ग्रं. १. १९.)
॥ १७४ ॥

सेलङ्घि-कङ्घ-वेत्तं णियभेएणणुहरंतओ माणो ।

णारय-तिरिय-णरामर-गङ्घ-विसयुप्पायओ कमसो^२ (प्रा. पं. १, ११२ । गो. जी. २८५. सेलघणअङ्घिदारुअलदासमाणो हवदि माणो ॥ कसायपहुड तिणिसलयाकङ्घिअसेलत्थंभोवमो माणो । क. ग्रं. १. १९.) ॥१७५ ॥

वेलुवमूलोरब्भय-सिंगे गोमुत्तएण खोरप्पे ।

सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामरेसु जणङ्घ जिअं^३ (प्रा. पं. १. ११३ । गो. जी. २८६. वंसीजण्हुगसरिसी मेढंविसाणसरिसी य गोमुत्ती । अवलेहणीसमाणा माया वि चउव्विहा भणिदा ॥ कसायपहुड. मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघनवंसिमूलसमा । क. ग्रं. १. २०.)
॥१७६ ॥

किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिद्व-राएण-सरिसओ लोहो ।

णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो^४ (प्रा. पं. १, ११४ । गो. जी. २८७. किमिरागरत्तसमगो अक्खमलसमो य पंसुलेवसमो । हालिद्वत्थसमगो लोभो वि चउव्विहो भणिदो ॥ कसायपहुड. लोहो हालिद्वखंजणकदमकिमिरागसमाणो ।) ॥ १७७ ॥

क्रोधकषाय चार प्रकारका है - पत्थरकी रेखाके समान, पृथिवीकी रेखाके समान, धूलिरेखाके समान और जलरेखाके समान । ये चारों ही क्रोध क्रमसे नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगतिमें उत्पन्न करानेवाले होते हैं ॥ १७४ ॥

मान चार प्रकारका है -- पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान तथा बेतके समान । ये चार प्रकारके मान क्रमसे नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगतिके उत्पादक हैं ॥१७५ ॥

माया चार प्रकारकी है -- बांसकी जडकेसमान, मेंढेकेसींगकेसमान, गोमूत्रकेसमान तथा खुरपाकेसमान । यह चार प्रकारकी माया क्रमसे जीवको नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवगतिमें ले जाती है ॥१७६॥

लोभकषाय चार प्रकारका है -- क्रिमिरागकेसमान, चक्रमलकेसमान, शरीरकेमलकेसमान और हल्दीकेरंगकेसमान। यह क्रमसे नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव गतिका उत्पादक है ॥ १७७ ॥

सकलकषायाभावोऽकषायः । उक्तं च

अप्प-परोभय-बांधण-बंधासंजम-णिमित्त-कोधादी ।

जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा^१ (प्रा. पं. १, ११६ । गो. जी. २८९. यद्यपि उपशांतकषायादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनोऽपि अकषाया अमलाश्च यथासंभवं द्रव्यभावमलरहिताः संति तथापि तेषां गुणस्थानप्ररुपणयैव अकषायत्वसिद्धिरस्तीति ज्ञातव्यं । तद्यथा, कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषायः स्वस्यैव बन्धनहेतुः स्वशिरोभिवातादिबाधाहेतुः हिंसाद्यसंयमहेतुश्च भवति । कस्यचिज्जीवस्स क्रोधादिकषायः परस्य स्वशत्र्वादेबादेर्बाधनबंधनासंयमहेतुर्भवति^२ कस्यचित्कामुकादिजीवस्य क्रोधादिकषायः स्वपरयोरपि यथासंभवं बाधनबन्धनासंयमहेतुर्भवति इति विभागः लोकानुसारेण आगमानुसारेण च द्रष्टव्यः । जी. प्र. टी.) ॥१७८॥

कषायाध्वानप्रतिपादनार्थमाह --

कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि ति ॥ ११२ ॥

यतीनामपूर्वकरणादीना कथं कषायास्तित्वमिती चेन्न, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्वाननिरुपणार्थमाह --

संपूर्ण कषायोंकेअभावको अकषाय कहते हैं । कहा भी है --

जिनके स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, बन्ध करने और असंयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ॥ १७८ ॥

अब कषायमार्गणाके विशेष प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं --

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक क्रोधकषायी, मानकषायी और मायाकषायी जीव होते हैं ॥१९२॥

शंका -- अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहां पर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है। शेष कथन सुगम है।

अब लोभकषायके विशेष प्ररूपण करनेकेलिये सूत्र कहते हैं --

लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपंराइय-सुद्धि- संजदा ति ॥ १९३ ॥

शेषकषायोदयविनाशे लोभकषायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकषायस्य सूक्ष्म-साम्परायोऽवधिः ।

अकषायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह ---

अकसाई चदुसु द्वाणेषु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था खीणकसाय-वीयराव-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवली ति २ (अकषायः उपशान्तकषायः क्षीणकषायः सयोगकेवली अयोगकेवली चेदि । स. सि. १. ८.) ॥ १९४ ॥

उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत्? कथं च न भवति? द्रव्यकषायस्यानन्तस्य सत्त्वात् । न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः । सुगममन्यत् । कषायस्यादेशः किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावतोऽनेनैव गतार्थत्वात् ।

लोभकषायसे युक्त जीव एकन्द्रियोंसे लेकर सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत गुणस्थानतक होते हैं ॥ १९३ ॥

शेष कषायोंके उदयके नाश हो जाने पर उसी समय लोभकषायका विनाश बन नहीं सकता है, इसलिये लोभकषायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है।

कषायरहित जीवोंसे उपलक्षित गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं ---

कषायरहित जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग, छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥११४॥

शंका -- उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा?

प्रतिशंका -- यह कषायरहित सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह सकते हैं?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, कषायके उदयके अभावकी अपेक्षा उसमें कषायोंसे रहितपना बन जाता है। शेष कथन सुगम है।

शंका -- कषायोंका विशेष (मार्गणाओंमें) कथन क्यों नहीं किया?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, कषायोंके सामान्य कथनसे उनका मार्गणाओंमें कथन करनेमें कोई विशेषता नहीं है, इसीसे उसका ज्ञान हो जाता है, इसलिये आदेश प्ररुपणा नहीं की।

ज्ञानद्वारेण जीवपदार्थनिरूपणार्थमाह -

णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंगणाणी अभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अत्रापि पूर्ववत्पर्यायपपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदात्पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति। ज्ञानिनां भेदाद् ज्ञानभेदोऽवगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणोपदेशः। ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भव इति चेन्न, मिथ्यात्व- समवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्रव्यपदेशवत्। किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थं रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च। अथवा प्रधानपदमाश्रित्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आम्रवनमिति यथा। जानातीति ज्ञानं साकारोपयोगः। अथवा जानात्यज्ञासीज्ज्ञास्यत्यनेनेति वा ज्ञानं ज्ञानावरणीय-कर्मणः एकदेशप्रक्षयात् समुत्पन्नात्मपरिणामः क्षायिको वा। तदपि ज्ञानं द्विविधम् ---

अब ज्ञानमार्गणाकेद्वारा जीव पदार्थकेनिरूपण करनेकेलिये सूत्र कहते हैं ---

ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मति-आज्ञानी श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११५ ॥

यहां पर भी पहलेकी तरह पर्याय और पर्यायीमें कथंचित् अभेद होनेसे पर्यायीके ग्रहण करने पर भी पर्यायरूप ज्ञानका ही ग्रहण होता है। अथवा, ज्ञानी कितने प्रकारके होते हैं इस बातके समझ लेनेसे ज्ञानके भेदोंका ज्ञान हो जाता है। इसलिये पर्यायीके कथनद्वारा यहां पर उपदेश दिया है।

शंका -- ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणामें कैसे संभव है?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे अज्ञान कहा है। जैसे, पुत्रोचित कार्यको नहीं करनेवाले पुत्रकोही अपुत्र कहा जाता है।

शंका -- वह ज्ञानका कार्य क्या है?

समाधान -- तत्त्वार्थमें रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्रिका धारण करना ज्ञानका कार्य है। अथवा, प्रधानपदकी अपेक्षा अज्ञानको भी ज्ञान कहा जाता है। जैसे, जिस वनमें आमके वृक्षोंकी बहुलता होती है उसे आम्रवन कहा जाता है।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते। अर्थात् साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं। अथवा, जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके एकदेश क्षयसे अथवा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए आत्माके परिणामको ज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक्षं परोक्षमिति । परोक्षं द्विविधम् -- मतिः श्रुतमिति । तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम् । तदपि चतुर्विधम्--अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति । विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः^१

(विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । स. सि. १. १५. विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः । त. रा. वा. १. १५. विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । विषयस्तावद् द्रव्यपर्यायात्मार्यः विषयिणो द्रव्यभावेन्द्रियं अर्थग्रहण योग्यतालक्षणं तदनन्तरभूतं सन्मात्रं दर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पमुत्तरं परिणामं प्रतिपद्यतेऽवग्रहः । लघीयस्त्र. स्वो. वृ. लि. पृ. २ प्र. पं. १-३। तत्राव्यक्तं

यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनाधारणमवग्रहः । तत्त्वार्थ. भा. १. १५.
विषयविषयिसंनिपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्र-
गोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः । प्रमाणनयत. २. ७.
अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणवग्रहः । प्रमाणमी. १. १. २७.)। अवग्रहीतस्यार्थस्य
विशेषाकाङ्क्षणमीहा । ईहितस्यार्थस्य निश्चायोऽवायः । कालान्तरेऽप्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं
धारणा^२ (एषां विशेषार्थपरिज्ञानाय विशेषावश्यकभाष्यं १७९, तः ३५०. गाथान्तं यावद् द्रष्टव्यम् ।
उगग्रहो एककं समयं ईहावाया मुहुत्तमंतं तु । कालमसंखं संखं च धारणा होई णायव्वा ।। आ. नि.
४) । अथवा चतुर्विंशतिविधं मतिज्ञानम् । तद्यथा, चाक्षुषं^३ (मु. चाक्षुषं च ।) चतुर्विधम्-मतिज्ञानमवग्रहः
ईहावायो धारणा चेति । एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसश्च वाच्यम् । अथवा
अष्टाविंशतिविधम् । तद्यथा, अवग्रहो द्विविधः- अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति । कोऽर्थावग्रहश्चेत
? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः ।

वह ज्ञान दो प्रकारका है--प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्षको दो भेद हैं-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । उनमें
पांच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । वह मतिज्ञान चार
प्रकारका है- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । विषय और विषयीके संबन्ध होनेके अनन्तर
समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं । अवग्रहसे ग्रहण किये गये पदार्थके
विशेषको जाननेकेलिये अभिलाषरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं । ईहाकेद्वारा जाने गये
पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं । कालान्तरमें भी विस्मरण न होनेरूप संस्कारके
उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा करते हैं ।

अथवा, मतिज्ञान चौबीस प्रकारका है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--चक्षु इन्द्रियसे
उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इसीप्रकार शेष
चार इन्द्रियोंसे और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे
चार चार प्रकारका है इस प्रकार कथन करना चाहिये । इस प्रकार ये सब मिलकर चौबीस भेद हो
जाते हैं । अथवा, मतिज्ञान अष्टाईस प्रकारका है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है । अवग्रह दो
प्रकारका है - अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ।

शंका -- अर्थावग्रह किसे कहते हैं?

समाधान -- अप्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं ।

को व्यञ्जनावग्रहः? प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः१ (व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति। X X ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्यं तत्र किंकृतोऽयं विशेषः? अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो। विशेषः। कथम्? अभिनवशरावार्द्धीकरणवत्। यथा जलकणव्दित्रिसिक्तः शरावोऽभिनवो नार्द्धीभवति, स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यते, एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला व्दित्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनः पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति। अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः। व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। स. सि. १. १८। त. रा. वा. १.५८. वा. २ अव्यक्तमत्र शब्दादिजातं व्यंजनामिष्यते। तस्यावग्रह एवेति नियमोऽध्यक्षवद्गतः।। त. श्लो. वा. १.१८.२. X X इन्द्रियैः प्राप्तार्थविशेषग्रहणं व्यंजनावग्रहः। तैरप्राप्तार्थविशेषग्रहणं अर्थावग्रह इत्यर्थः व्यंजनं अव्यक्तं शब्दादिजातं इति तत्त्वार्थविवरणेषु प्रोक्तं कथमनेन व्याख्यानेन सह संगतमिति चेदुच्यते, विगतं-अंजनं-अभिव्यक्तिर्यस्य तद् व्यंजनं। व्यज्यते म्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यंजनं। अंजु गतिव्यक्तिम्रक्षणार्थयोर्ग्रहणात्^६ शब्दाद्यर्थः श्रोत्रादीन्द्रियेण प्राप्तोऽपि यावन्नाभिव्यक्तस्तावद् व्यंजन-मित्युच्यते एकवारजलकणसिक्तनूतनशराववत्। पुनरभिव्यक्तौ सत्यां स एवार्थो भवति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३०७ X X अर्थ्यते इत्यर्थः अर्थस्यावग्रहणं अर्थावग्रहः, सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थ-ग्रहणमेकसामयिकमित्यर्थः। तथा व्यज्यते अनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं, तच्चोपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्धः, सम्बन्धे हि सति सोऽर्थः शब्दादिरूपः श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यज्ययितुं शक्यते नान्यथा, ततः सम्बन्धो व्यंजनं। X X व्यंजनेन-सम्बन्धेनावग्रहणं सम्बन्धमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थ-स्याव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यंजनावग्रहः^६ अथवा व्यज्यन्ते इति व्यंजनानि, कृद्बहुलमिति वचनात् कर्मण्यनट्, व्यंजनानां शब्दादिरूपतया परिणतानां द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियसम्प्राप्तानावग्रहः अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः। X X इयमत्र भावना उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथमसमयादारभ्यार्थावग्रहात् प्राक् या सप्तमत्तमूर्च्छितादिपुरुषाणामिव शब्दादिद्रव्यसम्बन्धमात्राविषया काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्रा सा व्यञ्जनावग्रहः, स चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः। नं. सू. पृ. १६८.२ कोर्थावग्रहः व्यंजनावग्रहो वा?

अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहः। न स्पष्टास्पष्टग्रहणेऽर्थव्यंजनावग्रहौ। तयोश्चक्षुर्मनसोरपि सत्त्वतस्तत्र व्यंजनावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगादस्तुचेन्न, न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामिति तत्र व्यंजनावग्रहस्य प्रतिषेधात्। न शनैर्ग्रहणं व्यंजनाव-)। तत्र चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव, तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुपलम्भात्। शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः। शेषेन्द्रियेष्व-प्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितप्रदेश

शंका -- व्यंजनावग्रह किस कहते हैं?

समाधान -- प्राप्त अर्थके ग्रहण करनेके व्यंजनावग्रह कहते हैं।

उनमें, चक्षु और मनसे अर्थावग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है। शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं।

शंका -- शेष इन्द्रियोंमे अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य देशमें स्थित निधियोंके होने पर जिस प्रदेशमें निधिस्थित है उस प्रदेशमें ही अंकुरोंका फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता है,

एव प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तितः स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणसिध्देः। शेषेन्द्रियाणामप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्त्येव। यद्युपलम्भस्त्रिकालगोचरम-शेषं पर्यच्छेत्स्यदनुपलब्धस्याभावोऽभविष्यत्। न चैवमनुपलम्भात्^६ न कात्स्न्येना-प्राप्तमर्थस्यानिःसृतत्वमनुक्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्य-

इसलिये स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना सिध्द हो जाता है।

शंका -- इसप्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना बन जाता है तो बन जाओ। फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है?

समाधान -- यदि शेष इन्द्रियोंसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है तो मत पाया जावे। तो भी वह है ही, क्योंकि, यदि हमारा ज्ञान त्रिकालगोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धका अभाव सिध्द हो जाता, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी

पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिये अनुपलब्ध नहीं रहता। किन्तु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाला है नहीं, क्योंकि सर्व पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि शेष इन्द्रियाँ अप्राप्त पदार्थको ग्रहण करती हैं इस बातको यदि हम न भी जान सकें, तो भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता है।

दूसरे, पदार्थके पूरी तरहसे अनिःसृतपनेको और अनुक्तपनेको हम अप्राप्त नहीं कहते हैं। जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होवे।

ग्रहः चक्षुर्मनसोरपि तदस्तित्वतः तयोर्व्यंजनावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगात्। न च तत्र शनैर्ग्रहणसिद्धमक्षिप्रभंगाभावे अष्टचत्वारिंशच्चक्षुर्मतिज्ञानभेदस्यासत्त्वप्रसंगात्। न श्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टयेऽर्थावग्रहः तत्र प्राप्तस्पोवार्थस्य ग्रहणोपलंभात् इति चेन्न, वनस्पतिष्वप्राप्तग्रहणस्योपलंभात् । तदपि कुतोऽवगम्यते ? दूरस्थनिधिमुद्दिश्च प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तेः। चत्वारि धणुसयाइं चउसड्डसयं च तह य धणुहाणं । पासे रसे य गंधे दुगुणा दुगुणा असण्णि ति ॥ XX इति आगमाब्दा तेषाप्राप्तार्थग्रहणमवगम्यते। नवयोजनान्तरस्थितपुद्गलद्रव्यस्कंदैकदेश-मागम्येन्द्रियसंबन्धं जानंतीति केचिदाचक्षते तन्न घटते, अध्वानप्ररुपणायाः वैफल्यप्रसंगात्। न चाध्वानं द्रव्याल्पीयस्त्वस्य कारणं स्वमहत्त्वापरित्यागेन भूयो योजनानि संचरज्जीमूतब्रातोपलम्भतोऽनेकांतात्। किञ्च यदि प्राप्तार्थग्राहिण्येवेन्द्रियाण्यध्वाननिरुपणमंतरेण द्रव्यप्रमाणप्ररुपणमेवाकरिष्यन् चैव तथानुपलंभात्॥ किं च नवयोजनांतरस्थिताग्निविषाभ्यां तीव्रस्पर्शरसक्षयोपशमानां दाहमरणे स्यातां प्राप्तार्थग्रहणात् तावन्मात्राध्वानस्थिताशुचिभक्षणद्गंधजनितदुःखे च तत एव स्यातां। पुट्टं सुणेइ सद्दं अपुट्टं चेय पस्सदे रुवं। गंधं रसं च फासं बध्दं पुट्टं च जाणादि। इत्यस्मात् सूत्रात्प्राप्तार्थग्राहित्वमिन्द्रियाणामवगम्यत इति चेन्न, अर्थावग्रहस्य लक्षणाभावतः खरविषाणस्येवाभावप्रसंगात्। कथं पुनरस्याः गाथाया अर्थो व्याख्यायते? उच्यते, रुपमस्पष्टेव चक्षुर्गृह्णाति च-शब्दान्मनश्च। गंधं रसं स्पर्शं च बध्दं स्वकं स्वकेन्द्रियेषु नियमितं पुट्टं स्पष्टं च-शब्दादस्पष्टं च शेषेन्द्रियाणि गृह्णाति। पुट्टं सुणेइ सद्दं इत्यत्रापि बध्दं च शब्दौ योज्यौ अन्यथा दुर्व्याख्यानतापत्तेः। धवला ६९८-६९९.

कारित्वमिति । किं तर्हि? कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्तावग्रहादिः, तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात् । तथा च रसगन्ध-स्पर्शानां स्वग्राहिभिरिन्द्रियैः स्पष्टं स्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य च । रूपस्य चक्षुषाभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्तावग्रहादि-सिद्धेः । किं च तेनाभिहितेनानुक्तावग्रहः यथा दध्नो गन्धग्रहणकाल एव तद्रसोपलम्भः । नियमितधर्मविशिष्टवस्तुनो वस्त्वेकदेशस्य वा ग्रहणमुक्तावग्रहः । सोऽयमित्यादि ध्रुवावग्रहः । न सोऽय मित्याद्यध्रुवावग्रहः^६ एवमीहादीनामपि योज्यम् । सर्वाण्येतानि मतिज्ञानम् ।

शब्दधूमादिभ्योऽर्थान्तरावगमः श्रुतज्ञानम्^९ (अवगगहादिधारणापेरंतमदिणाणेण अवगयत्थादी अण्णत्थावगमो सुदणाणं । तं च दुविहं, सद्वलिंगजं असद्वलिंगजं चेदि । धूमलिंगादो जलणावगमो असद्वलिंगजो । अवरो सद्वलिंगजो । किं लक्खणं लिंगं? अण्णहाणुवत्ति लक्खणं । धवला. अ. पृ. ११७१.) तत्र शब्दलिङ्गजं

शंका -- तो फिर क्या है? और यदि पूरी तरहसे अनिःसृतत्व और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि कैसे हो सकेंगे? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायगा?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोंके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको ही प्राप्ति कहते हैं। ऐसी अवस्थामें रस, गन्ध और स्पर्शका उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके साथ अपने अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट ही है। शब्दका भी उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है। उसी प्रकार रूपका चक्षुके साथ अभिमुखरूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि, रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना नहीं बनता है। इस प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं।

ऊपर कहे हुए कथनानुसार अनुक्तावग्रह यह हैं। जैसे, दहीके गन्धके ग्रहण करनेके कालमें ही दहीके रसकी भी उपलब्धि हो जाती है। निश्चित धर्मोंसे युक्त वस्तुका अथवा वस्तुके एकदेशका ग्रहण करना उक्तावग्रह है। 'वह यही है' इत्यादी प्रकारसे ग्रहण करनेको ध्रुवावग्रह

कहते हैं। 'वह यह नहीं है' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको अधुवावग्रह कहते हैं। इसी प्रकार ईहादिसंबन्धी उक्त अनुक्त आदिको भी जानना चाहिये। इन सभी भेदोंको मतिज्ञान कहते हैं।

शब्द और धूमादिक लिंगके द्वारा जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। उनमें शब्दकेनिमित्तसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अंग

द्विविधमङ्गमङ्गबाह्यमिति । अङ्गश्रुतं द्वादशविधम् । अङ्गबाह्यं चतुर्दशविधम् । प्रत्यक्षं त्रिविधम् १ (अपरायत्तं नाणं पच्चक्खं तिविहमोहिमाईयं । जं परतो आयत्तं तं पारोक्ख हवइ सव्वं ।। बृ. क. सू. २९.), अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति । साक्षन्मूर्ताशेषपदार्थ-परिच्छेदकमवधिज्ञानम् । साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्ययज्ञानम् २ (तं मणपज्जवनाणं जण वियाणाइ सन्निजीवाणं । दट्ठं मणिज्जमाणे मणदव्वे माणसं भावं । बृ. क. सू. ३५) ६ साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं केवलज्ञानम् ३ (दव्वादिकसिणविसयं केवलमेगं तु केवलन्नाणं । अणिवारियवावारं अणंतमविकप्पियं नियतं । बृ. क. सू. ३८.) ६ मिथ्यात्वसमवेत-मिन्द्रियजज्ञानं मत्यज्ञानम् । तेनैव समवेतः शाब्दः प्रत्ययः श्रुताज्ञानम् । तत्समवेत-मवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानम् । उक्तं च ---

विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु विणुवदेस-करणेण ।

जा खलु पवत्तइ मदि-अण्णाणे त्ति तं बेंति ४ (प्रा. पं. १, ११८ ।

गो. जी. ३०३. उपदेशपूर्वकत्वे श्रुतज्ञानत्वप्रसंगात् । उपदेशक्रियां विना यदीदृशमूहापोहविकल्पात्मकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहकारणं आर्तरौद्रध्यानकारणं शल्यदंडगारवसंज्ञाद्यप्रशस्त-परिणामकारणं च इन्द्रियमनोजनिताविशेषग्रहणरूपं मिथ्याज्ञानं तन्मत्यज्ञानमिति निश्चेतव्यम् । जी. प्र. टी.) ॥१७९॥

आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादि-उवएसा ।

तुच्छा असाहणीया सुद-अण्णाणे त्ति तं बेंति ५ (प्रा. पं. १, ११९ । गो. जी.

३०४. आ. सभंतादीभताः आभीताः चोराः तच्छास्त्रमप्याभीतं । असवः प्राणाः तेषां रक्षा येभ्यः ते असुरक्षाः तलवराः तेषां शास्त्रमासुरक्षं । आदिशब्दाद्यन्मिथ्यादर्शनदूषित-सर्वथैकान्तवादिस्वेच्छाकल्पितकथाप्रबंधभुवनकोशहिंसायागादिगृहस्थकर्म त्रिदंड-जटाधारणादितपःकर्मषोड-

शपदार्थषट्पदार्थभावनाविधिनियोगभूतचतुष्टयपंचविंशतितत्त्वब्रह्माद्वैतचतुरार्यसत्यवि
इ
ानाद्वैतसर्वाशून्यत्वादि --प्रतिपादकागमाभसजनित श्रुतज्ञानाभासं तत्तसर्वं श्रुताज्ञानमिति
निश्चेतव्यं, दृष्टेष्टाविरुद्धार्थविषयत्वात् जी. प्र. टी.) ॥१८०॥

और अंगबाह्य । अंगश्रुत बारह प्रकारका है और अंगबाह्य चौदह प्रकारका है ।

प्रत्यक्षज्ञानके तीन भेद हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । संपूर्ण मूर्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं । मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । त्रिकालके विषयभूत समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वसमवेत ज्ञानको मत्यज्ञान कहते हैं । शब्दके निमित्तसे जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका मिथ्यात्वसमवेत ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । मिथ्यादर्शनसमवेत अवधिज्ञानको विभंगज्ञान कहते हैं । कहा भी है --

दूसरेके उपदेश विना विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं ॥१७९॥

चौरशास्त्र, हिंसाशास्त्र, भारत और रामायण आदिके तुच्छ और साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥१८०॥

विवरीयमोहिणाणं खड्युवसमियं च कम्म-बीजं च ।

वेभंगो त्ति पउच्चइ समत्त-णाणीहि समयम्हि^१ (प्रा. पं. १, १२०, । गो. जी. ३०५. विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंगः विपर्ययः विभंग इति निरुक्ति-सिद्धार्थस्यैव अनेन प्ररुपितत्वात् । जी. प्र. टी. विरुद्धो वितथो वा अन्यथा वस्तुभंगो वस्तुविकल्पो यस्मिंस्तद्विभङ्गं, तच्च तज्ज्ञानं च साकारत्वादिति विभङ्गज्ञानं मिथ्यात्वसहितोऽवधिरित्यर्थः सू. ५४२ (अभि. रा. को. विभंगणाण.))

॥१८१॥

अभिमुह-णियमिय-बोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं ।

बहु-ओगगहाइणा खलु कय-छत्तीस-ति-सय-भेयं ^२ (प्रा. पं. १, १२१, । गो. जी. ३०६ स्थूलवर्तमानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थः अभिमुखः, अस्येन्द्रियस्य अयमेवार्थः इत्यवधारितो नियमितः । अभिमुखश्चासौ नियमितश्चासौ अभिमुखनियमितः । तस्यार्थस्य बोधनं अभिनिबोधिकं मतिज्ञानमित्यर्थः । जी. प्र. टी.) ॥१८२॥

अथादो अत्थंतर-उवलंभो तं भणंति सुदणाणं ।

आभिणिबोहिय-पुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ^३ (प्रा. पं. १, १२२ । गो. जी. ३१५. जीवोऽस्तीत्युक्ते जीवोऽस्तीति शब्दज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं भवति । ज्ञानेन जीवोऽस्तीति शब्दवाच्यरूपे आत्मास्तित्वे वाच्यवाचकसंबंधसंकेतसंकलनपूर्वकं यद् ज्ञानमुत्पद्यते तदक्षरात्मकं श्रुतज्ञानं भवति, अक्षरात्मकशब्दसमुत्पन्नत्वेन कार्ये कारणोपचारात् । वातशीत-स्पर्शज्ञानेन वातप्रकृतिकस्य तत्स्पर्शं अमनोज्ञज्ञामनक्षरात्मकं लिंगजं श्रुतज्ञानं भवति, शब्दपूर्वकत्वाभावात् जी. प्र. टी.) ॥१८३॥

अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणे त्ति वण्णिदं समए ।

भव-गुण-पच्चय-विहियं तमोहिणाणे त्ति णं बेंति ^४ (प्रा. पं. १, १२३ । गो. जी. ३७०. अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाब्दा अवधिः । स. सि. १.९ अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने सत्यवधीयतेऽवाग्दधात्यवाग्धानमात्रं वावधिः । अवधिशब्दोऽध) ॥१८४॥

सर्वज्ञोंके द्वारा आगममें क्षयापशमजन्य और मिथ्यात्वादि कर्मके कारणरूप विपरीत अवधिज्ञानको विभंग ज्ञान कहा है ॥ १८१॥

मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न हुए अभिमुख और नियमित पदार्थके ज्ञानको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं । उसके बहु आदिक बारह प्रकारके पदार्थ और अवग्रह आदिकी अपेक्षा तीनसौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥ १८२॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्संबन्धी दूसरे पदार्थके श्रुतज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है । इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस प्रकार दो भेद हैं । उनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥ १८३॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञानके विषयकी सीमा हो उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इसलिये परमागममें इसको सीमाज्ञान कहा है। इसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं ॥ १८४ ॥
